



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2015; 1(3): 16-17

© 2015 IJSR

www.sanskritjournal.com

Received: 02-03-2015

Accepted: 13-04-2015

डॉ. सोमवीर

असि. प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

आचार्य काका कालेलकर की दृष्टि में गीता का समाजदर्शन

डॉ. सोमवीर

गीता हिंसा सिखाती है या अहिंसा, इस पर विद्वानों ने गहरा चिन्तन किया है। यह आक्षेप प्रायः किया जाता है कि भगवान श्रीकृष्ण यदि अर्जुन को गीता का उपदेश न देते तो महाभारत का युद्ध रोका जा सकता था। रूस में ऐसा कहने वाले लोगों का उल्लेख कुछ समय पहले समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ था, जिनके अनुसार गीता से युद्ध और आतंकवाद को बढ़ावा मिलता है इसलिए गीता पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। ऐसा कहने वाले कैसे भ्रम में उलझे हुए हैं यह गीता का कोई भी गम्भीर अध्ययता आसानी से देख सकता है। गीता के मूल में अनासक्ति और स्वधर्म ऐसे विशिष्ट बिन्दु हैं जो जीवन को अध्यात्म की राह पर लाकर उसे उत्कृष्ट बना देते हैं।

अर्जुन ने युद्ध छोड़ने की बात अहिंसा के लिए नहीं की थी, अपितु क्षणिक मोह के कारण उसने यह बात कही थी अथवा यँ कहे कि अर्जुन अहिंसा का पालन करने का प्रयत्न नहीं कर रहा था बल्कि अपने उत्तरदायित्व से बचने का प्रयास कर रहा था। अर्जुन के सम्मुख 'मारुँ या न मारुँ?' का प्रश्न नहीं था बल्कि प्रश्न यह था कि 'आत्मीयजनों को मारुँ या न मारुँ?'

शंकराचार्यादि प्राचीन दार्शनिक मानते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण जब अर्जुन को 'ततो युद्धाय युज्यस्व' कहते हैं तो वहाँ युद्ध कर्तव्य कर्म के रूप में विहित नहीं है अपितु अनासक्ति भाव से कर्म करने के रूप में आदिष्ट है।

**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।¹**

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम सुख या दुःख, हानि या लाभ, विजय या पराजय का विचार किये बिना युद्ध के लिए युद्ध करो। ऐसा करने पर तुम्हें कोई पाप नहीं होगा। जो ग्रन्थ स्थितप्रज्ञ² के लक्षण सिखाता है उसका उपदेश भौतिक युद्ध की प्रेरणा के लिए हो ही नहीं सकता। आचार्य कालेलकर कहते हैं कि गीता को प्रस्थानत्रयी में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है तब से उसकी भूमिका किसी ग्रन्थ विशेष की न रहकर सार्वभौम हो गई। इसलिए गीता में जिसका उपदेश किया गया है वह युद्ध आन्तरिक या सनातन युद्ध के रूप में स्वीकार गया है।

गीता के 18वें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस मनुष्य में अहं भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्म में लिप्त नहीं होती, वह समस्त प्राणियों को मारकर भी न हिंसा करता है और न ही कर्मबन्धन में बंधता है।

**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।।³**

इस श्लोक का भाव गीता में कहे हुए सार्वभौम संन्यास योग के ही अनुकूल है। अर्जुन आततायी को मारने के विरुद्ध नहीं था। उसका कहना मात्र इतना है कि स्वजन को नहीं मारना चाहिए, भले ही वह समाजद्रोही हो। इस प्रकार अर्जुन के मत में समाज से कुल धर्म और जाति धर्म श्रेष्ठ है। उसे यह समझाना आवश्यक था कि मृत्यु का डर अहिंसा नहीं है वह तो केवल देहासक्ति है। इसलिए आत्मा और देह के भेद की पहचान कराने के लिए उसे गीता का उपदेश दिया गया है।

आचार्य काका साहेब कालेलकर मानते हैं कि समाज के साथ ओतप्रोत होने में यदि कोई चीज बाधरूप होती है तो वह है देह की चिंता तथा देह की आसक्ति। इन दोनों के दूर होने से व्यक्ति तथा समाज के बीच विरोध मिटा ही समझना चाहिए। आध्यात्मिक साधना का अन्य अर्थ नहीं है— इतना ही है कि सामाजिक जीवन के लिए बाधरूप होने वाले व्यक्तिगत जीवन में रहे हुए क्लृप्त भाग को निकाल फेंकना। किन्तु सामाजिक जीवन का अर्थ अत्यन्त व्यापक तथा धर्म्य करना चाहिए। जिसका अर्थ निकल गया है, जो निष्काम बन गया है उसको ही 'समाज' शब्द का व्यापक अर्थ सहज स्फुरेगा तथा मान्य होगा।

Correspondence

डॉ. सोमवीर

असि. प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

इसीलिए गीता में अनासक्ति, निष्कामता, स्थितप्रज्ञ आदि गुणों का आग्रहपूर्वक पुरस्कार किया गया है, इन बातों को जिसने सिद्ध कर लिया उसे अमृतत्व मिला है—

समदुःखसुखंधीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।⁴

अहिंसा धर्म आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करके ही चलता है। गीता में अलग-अलग प्रसंगों में आदर्श पुरुष के जो लक्षण दिये गये हैं— वे स्थितप्रज्ञ के सन्दर्भ में हो या योगी, पंडित, भक्त या ज्ञानी आदि के सन्दर्भ में वे अधिकांश सामाजिक लक्षण हैं। ऐसे पुरुष का जीवन अहिंसामय ही होगा। आचार्य काका साहेब कालेलकर का कहना है कि 'गीता की पूरी सामाजिक कल्पना तथा जीवन रचना सर्वसंग्राहक, सर्वोदयकारी एवं अहिंसक है।⁵ इसलिए गीता का संवाद वस्तुतः रूपात्मक है और महाभारत में उसे जिस स्थान पर रखा गया है वह ऐसे अलग ही चमकता है जैसे हिमालय के उत्तुंग शिखरों में गौरीशंकर।'

भगवद्गीता को प्रमाणभूत शास्त्र के रूप में स्वीकार किया जाता है। गीता स्वयं शास्त्र प्रमाण की बात करती है। श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि जो व्यक्ति शास्त्र के विधान को छोड़कर मनमाने ढंग से कार्य करता है, उसे न तो सिद्धि, न सुख और न ही परमगति की प्राप्ति हो पाती है।

यः शास्त्राविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।⁶

यहाँ शास्त्र से तात्पर्य कोई ग्रन्थ विशेष नहीं है, इसका अर्थ है शिष्टाचार। इसी प्रकार 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते'⁷ का मतलब किसी ग्रन्थ से नहीं किन्तु आज की परिस्थिति में जो सर्वोच्च और कारगर जीवन शिष्टाचार हो उसी को, प्रमाण मानने की यहाँ सलाह दी गई है।

वैयाकरण दार्शनिक भर्तृहरि ने एक स्थल पर कहा है कि 'नियतकालः स्मृतयस्तत्श्रुतयश्च'⁸ अर्थात् स्मृतियाँ और उनकी श्रुतियाँ कालविशेष के सन्दर्भ में ही प्रासंगिक हैं।

आचार्य कालेलकर के अनुसार ज्ञान और अनुभव को तर्कशुद्ध में व्यवस्थित करके रखना शास्त्र का काम है। शास्त्र का दूसरा प्रयोजन समाज का शासन और नियमन करके समाज को कार्यक्षम, संतुष्ट और प्रगतिशील बनाने का है।

देवी और आसुरी संपत्ति की चर्चा करने वाला गीता का सोलहवाँ अध्याय काकासाहेब का प्रिय प्रकरण है। देवी सम्पत् को समाज व्यवस्था अथवा लोकशास्त्र की बुनियाद कहा जा सकता है, जिसमें देवी सम्पत्ति के 26 लक्षणों की विस्तार से चर्चा की है।⁹ उनके इस लोकशास्त्र में केवल मनुष्य नहीं अपितु समस्त सृष्टि, पशु-पक्षी, कीट-पतंग बल्कि अदृश्य कोटियों का समावेश है। उनका कहना है कि गीता का समाजशास्त्र देवी और आसुरी संपत् में पूरा आ गया है और उसने समाजशास्त्र की शोभा बढ़ाई है 'सर्वभूतहिते रताः' ऐसे लोकसंग्रह की परमकारुणिक कल्पना ने इसी देवी संपत्ति के गुणों को साधकर जो सामाजिक कार्य या कर्तव्य कर्म करते हैं जिन्हें काका साहेब तीन भागों में बाँटकर देखते हैं: यज्ञ, दान और तप।

कुदरत से या समाज से जितना पाया और भोगा उसके बदले समाज और सृष्टि को लौटाने के लिए निष्काम बुद्धि से आवश्यक कर्म करना यज्ञ है। सामाजिक सुख की सोचकर सबके सुख का आदर्श मन में रखकर अपने अधिकार से निकालकर स्वेच्छापूर्वक स्वतन्त्र बुद्धि से देना दान है। यह दान तिरस्कार करके न दिया जाय, केवल धर्मबुद्धि और कर्तव्य बुद्धि से दिया जाय, यह गीता का उपदेश है।¹⁰

इस प्रकार आचार्य काका कालेलकर गीता के दर्शन को पूर्णतया सामाजिक धरातल पर उतरा हुआ मानते हैं तथा गीता की दृष्टि को वैश्विक दृष्टि के रूप में स्वीकारते हैं।

सन्दर्भ :-

1. भगवद्गीता, 2.38
2. स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव। स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत् व्रजेत किम्।। प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। भगवद्गीता, 2. 54-55
3. भगवद्गीता, 18.17
4. भगवद्गीता, 2.15 (आचार्य काका कालेलकर ग्रन्थावली-7, पृष्ठ 284)
5. काका कालेलकर ग्रन्थावली-7, पृष्ठ 289
6. भगवद्गीता, 16.23
7. भगवद्गीता, 16.24
8. भर्तृहरि, वाक्यपदीय
9. काका कालेलकर ग्रन्थावली-7, पृष्ठ 197-294
10. काका कालेलकर ग्रन्थावली-7, पृष्ठ 41